युगद्रष्टा आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धांत का आलोचनात्मक अध्ययन

डॉ. आर.पी. वर्मा,
असि. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
इन्दिरा गॉंधी राजकीय महिलामहाविधालय,
रायबरेली, उ.प्र

आचार्य रामचन्द्र शक्ल हिंदी के युगद्रष्टा आलोचक हैं। एक गंभीर विचारक और मर्मपारखी होने के कारण उन्होंने हिंदी समीक्षा को व्यक्तित्त्व संपन्न एवं उच्च भावभूमि पर अधिष्ठित किया है। सबसे पहले शुक्लजी ने ही कवियों और उनकी कृतियों तथा साहित्व की सामान्य प्रवृत्तियों को सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर परखा एवं हिंदी समीक्षा का अभिनव ढंग से विकास किया है।

शुक्लजी ने काव्य को अपना उपजीव्य बनाया। मूल रूप में उनका विवेच्य–विषय काव्यालेचन ही रहा है। उन्होंने काव्य के अन्तर्गत आने वाले रास, भाव, मनोविकार, साधारणीकरण, रीति, अलंकार आदि को अपना आलोच्य–विषय बनाकर इन विषयों का वैज्ञानित दृष्टि से विवेचन और विश्लेषण किया है। यही कारण है कि स्वभाव से काव्य प्रेमी होने के कारण शुक्लजी का मन काव्यालोचन में अधिक रमा है।

शुक्लजी ने काव्य, कला और साहित्य के विविध उपकरणों–भावतत्त्व, विचार तत्त्व औश्र काव्य या साहित्य की मूल प्रेरणा, काव्य–रूप, शैली के अंग, भाषा, शब्दशक्ति, छन्द, अलंकार आदि काव्य के विविध मूल्यों–रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, गुण आदि पर शास्त्रीय एवं स्वरूप निर्धारणापरक दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने सूक्ष्म सैद्धांन्तिम विवेचना करते हुए, हिंदी में, समीक्षा की सैद्धान्तिम विचारणा को गहरी गति व उत्तेजना प्रदान की है। 'शुक्ल युग' नाम से जो अभिधान आज उनके लिए प्रयुक्त किया जाता है, वह उनके कृतित्त्व के इसी रहस्य में निहित है। उन्होनें समीक्षा के दोनों पक्षों सैद्धान्तिम और व्यावहारिक को भारतीय और पाश्चात्य साहित्य–ज्ञान के आधार पर पुष्ट बनाकर विकसित और परिष्कृत किया है।

शुक्लजी की समीक्षा के स्पष्टतः दो क्षेत्र हैं – एक साहित्य की धाराओं का क्षेत्र और दूसरा प्रसिद्ध–प्रसिद्ध रचनाकारों का क्षेत्र। शुल्कजी के प्रथम प्रकार के क्षेत्र में उनके द्वारा लिखा गया 'हिन्दी–साहित्य का इतिहास' आता है। वे प्रथम ऐतिहासिक समीक्षक हैं, जिन्होंने हिन्दी–साहित्य का काल विभाजन करते हुए प्रत्येक काज की सामान्य–प्रवृत्तियों का परिचय दिया है। इसके साथ–साथ सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव को लक्ष्य में रखते हुए कवियों और कृतियों की विवेचनात्मक आलोचना करके उनका वास्तविक मूल्यांकन करने का श्लाघनीय प्रयन्त किया है।

उनके दूसरे क्षेत्र में सूर, तुलसी और जायसी आदि के विषय में लिखी गई समीक्षाएं आती हैं। इन व्यावहारिक समीक्षाओं में यत्र–तत्र उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा के भी दर्शन होते हैं। 'चिन्तामणि' के दोनों भागों में संकलित मनोवैज्ञानिक और समीक्षात्मक निबंध स्थायी महत्त्व प्राप्त कर चुके हैं। इसके साथ ही 'रस

मीमांसा' जैसे गम्भीर विषय पर नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है।

उन्होनं साहित्यिक समीक्षा में, सिद्धांक को व्यवहार से पृथक् नहीं किया, अपितु समीक्षा–सिद्धान्तों की उपयोगिता और प्रामाणिकता को सैद्धान्तिक और व्यावहार से पृथक् नहीं किया, अपितु समीक्षा–सिद्धान्तों की उपयोगिता और प्रमाणिकता को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा के समन्वय में सिद्ध करने का यत्न किया है।

शुक्लजी की सैद्धान्तिक समीक्षा के दर्शन उनके निम्न निबंधों में होते हैं –

कविता क्या है?

इस निबंध के अन्तर्गत शुक्लजी ने अपनी रस दृष्टि से काव्य परिभाषा, काव्य–लक्षण, काव्य–पयोजन, काव्य के उपादान–तत्त्व, काव्य–प्रक्रिया, काव्य–दृष्टि, काव्य–सौन्दर्य, काव्य का स्वरूप, काव्य का अधिकारी, कविकर्म, कविता की कसौटी, कविता की शक्ति, कविता की आवश्यकता, कविता का महत्त्व आदि पर विचार करते हुए 'सम्यता के आवरण तथा कविता' उपशीर्षक में अपने सिद्धान्त और बिम्बग्रहण के सिद्धान्त पर विचार किया है। इसके अतिरिक्त 'कविता और सृष्टि–प्रसार, 'मनुष्यता की उच्च भूमि', 'चमत्कार वाद तथा अलंकार' एवं 'कविता की भाषा' पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करते हुए अपने समीक्षा सिद्धान्तों को परिपुष्ट किया है।

काव्य में लोक मंगल साधनावस्था

प्रस्तुत निबंध में शुक्लजी ने काव्य में लोकमंगल के विधान की विधियों, प्रकारों और विशेषताओं पर प्रमुख रूप से विचार करते हुए गौण रूप से काव्य के आधार, काव्य में कला की आवश्यकता काव्य या कला का धर्म और नीति से सम्बन्ध, काव्य और कला के प्ररेक तत्त्व आदि का सूत्रात्मक रूप में विवेचना किया है।

साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद

इन निबंध के अन्तर्गत शुक्लजी ने रस–प्रक्रिया सम्बन्धी भारतीय मत–साधारणीकरण को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान हुए सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट किया है। उन्होनें साधारणीकरण की परिभाषा, उसका अभिप्राय, साधारणीकरण के कारण, साधारणीकरण का महत्त्व, उसके तत्त्व तथा कवि, पाठक या सहृदय की मन–स्थिति का गम्भीर विवेचना किया है। साथ ही साधारणीकरण की विभिन्न अवस्थाओं एवं स्वरूपों को स्पष्ट करते हुए, श्रृंगार और वीररस के अतिरिक्त अन्य रसों के साथ भी साधारणीकरण के प्रयोग की विधि निर्दिष्ट की हे। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य रूपों के साथ साधारणीकरण का प्रयोग करके उसे सार्वभौम काव्य सिद्धांत सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसके साथ–साथ युगानुकूल विकास को दृष्टिगत रखते हुए आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर बल देकर काव्य में लोक धर्म की आवश्यकता एवं महत्ता का विशिष्ट रूप से प्रतिपादन किया है। साथ ही उसका व्यक्ति वैचित्र्य के संदर्भ में पुनराख्यान किया है।

रसात्मक बोध के विविध रूप

शुक्लजी ने रसात्मक बोध के–प्रत्यक्ष रूप से विधान और स्मृत रूप से विधान दो रूपों की ओर पाठों का ध्यान आकृष्ट करके प्रत्यक्ष जीवन तक रस सिद्धान्त की व्याप्ति को लेकर साहित्य और जीवन के एकीकरण को स्पष्ट किया है। उन्होंने जीवन की भूमिका पर, साहित्य शास्त्र की महत्ता और समग्रता का प्रतिदान करते हुए जीवन से समन्वित साहित्य को ही यथार्थ कोटि का सिद्ध किया है।

रस–मीमांसा

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित, प्रस्तुत पुस्तक में, आचार्य शुक्ल के रस सिद्धान्त और काव्य, सामान्य से सम्बनित निबंधों को संबंधित और परवर्ति रूप में रखा गया है। इसके अन्तर्गत विवेचित काव्य का लक्षण, भावों का वर्गीकरण असंबद्ध भावों का रसवत्, रस विरोध विचार, प्रस्तुत रूप विधान, अप्रस्तुत रूप विधान और शब्द शक्ति आदि विषयों में उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा के दर्शन होते हैं।

शुक्लजी का कृतित्त्व व्यापक और गम्भीर है। उन्होंने अपनी सूक्ष्म और पैनी दृष्टि से हिन्दी में नवीन वैज्ञानिक कार्य किया है। उन्होंने शोधात्मक, तुलनात्मक और निर्णयात्मक दृष्टि से अपने कृतित्त्व को महान वैशिष्ट्य प्रदान किया है।

शुक्लजी के प्रेरणा–श्रोत और विचारधारा

शुक्ल पूर्व, द्विवेदी–युग तक हन्दी समीक्षा जगत् में अनेक महत्त्वपूर्ण आलोकचना तत्त्व मंथन होकर ऊपर आ गये थे। इन समीक्षा तत्त्वों का अपना अस्तित्त्व और सामर्थ्य अवश्य रहा, परन्तु उनकी वास्तविक सार्थकता का उद्घाटन आचार्य शुक्लजी ने किया। उनके काव्यालोचल के मानदंडों का आधार उनसे पूर्व का साहित्य और अनेक साहित्यकार रहे हैं।

शुक्लजी के समीक्षा सिद्धांन्तों के मूल श्रोज उनके व्यक्तिव के प्रमुख तत्त्वों–प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास में निहित है। उनकी प्रतिभा के गुण गंभीरता विचारशीलता, सहृदयता, तार्किकता आदि उनकी समीक्षा के मूलाधार हैं। शुक्लजी के व्यक्तित्त्व की अतृप्त, जिज्ञासावृत्ति, तथातथ्य निरूपण वृत्ति, नीर–क्षीर विवेकी वृत्ति एवं आत्मवैशिष्ट्य की प्रवृत्ति आदि कतिपय सह प्रवृत्तियां हैं, जिनके द्वारा उनकी समीक्षा को सृदृढ़ आधार प्राप्त हुआ है।

शुक्लजी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा की अधिकता होते हुए भी, भावयित्री प्रतिभा के बल पर आलोचना लिखने में अधिक समर्थ हुए हैं। उन्होनें अपने समीक्ष सिद्धान्तों के निर्माण में वेद, उपनिष्द्, पुराणों से क्रमशः जीवनोत्साह, तत्त्वचिंतन एवं सुगणभक्ति, वाल्मीकि, भवभूति, कालीदास आदि से जातीय, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक आदर्श के साथ–साथ सौंदर्य–दृष्टि, कला निष्ठा व प्रकृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की भावना ग्रहण की हे। तुलसी के 'रामचरितमानस'न से लोलोपयोगिता का आदर्श ग्रहण किया है। दयानन्द और द्विवेदी से नैतिकतामूलक समाज–सुधार पृत्ति, भरत, मम्मट, विश्वनाथ, भट्टनायक तथा जगन्नाथ से साहित्यिक रस दृष्टि और पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्याचार्यों से साहित्यिक व्याख्यात क्षमता एवं श्यामसुन्दर दाय आदि विद्वानों की रचनाओं से सैद्धान्तिम समीक्षा तत्त्वों को ग्रहण करके अपनी चिन्तन प्रणाली में यथावश्यकका निर्माण किया है।

शुक्लाजी ने अपने जीवन क मूल संस्कारों और शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन के द्वारा हिन्दी समीक्षा को स्वतंत्र व्यक्तित्त्व प्रदान किया और उसके आधार पर हिन्दी साहित्य को नवीन तिधि के रूप में विश्व के समक्ष रखा है। इस लक्ष्य की सिद्धि उन्हें रस सिद्धान्त के रूप में मिल सकी हे। उनके समीक्षा सिद्धान्तों के सभी मूल श्रोत या प्रेरणा–श्रोत भारतीय संस्कृत साहित्यशास्त्र से गृहीत हैं। पश्चिम के काव्यरूपों को अपनाकर भी उनकी आत्मा में भारतीयता के दर्शन किये हैं।

शुक्लजी समीक्षा के सभी अंगों का समाज रूप से विन्यास करते हुए चले हैं। उन्होंने यह तथ्य स्पष्ट किया कि साहित्य के किसी एक अंग को लेकर चलने वाली समीक्षा में, अन्तरात्मका के दर्शन कराने की शक्ति नहीं आ सकती। यही कारण है कि वे आज के हिन्दी समीक्षकों के लिए एक विचार बिन्दु या संदेश दे गये हैं कि साहित्य की समीक्षा किसी एक पहलू या अंग को दृष्टि में

रखकर करने की अपेक्षा सब अंगों को ध्यान में रखकर करनी चाहिए।

शुक्लजी ने अपने पूर्ववर्ती साहित्यालोचन के क्षेत्र की एकांगिता को समाप्त करके सर्वतोभावेन निष्पक्ष विवेच किया है। समीक्षा के क्षेत्र में उच्च काव्य भावना के फलस्वरूप उनकी विचारधारा का एक निश्चित मानदण्ड बन गया। शुक्लजी ने कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध रचना को मुक्त काव्य की तुलना में श्रेष्ठतर माना एवं सगुण निर्गुण के विवेचन में सगुण की ओर अधिक आकृष्ट हुए। तुलसी के प्रति अधिक श्रद्धा भाव होने के कारण उनकी काव्य रचना को अपनी सैद्धन्तिक समीक्षा का आधार बनाकर चले। छायावाद और रहस्यवाद के प्रयोगों को विदेशी एवं आग्राह्य मानते हुये उन्हें महत्वहीन समझा। क्रोचे का अभिव्यंजनात्मक उन्हें 'भारतीय चक्रोक्तिवादके विलायती उत्थान' से अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं हुआ। इसी प्रकार कलावाद और स्वच्छन्दतावाद बल्किचित् रूप में ही स्वीकार्य हो सकें।

शुक्ल जी की इस विचारधारा के मूल में, उदात्तता, मार्यादा, गम्भीरता एवं आदर्शवादिता से समन्वित संस्कारों का बल निहित है। भारतीयता के प्रति मोह और अपने जीवन सिद्धान्त–लोकमंगल या लोक–धर्म के प्रति आग्रह ने उनकी विचारधारा को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है।

मर्यादित भावना और चिन्तन–दृष्टि

शुक्ल जी अपना समीक्षण कार्य लोक–जीवन की पृष्ठभूमि के परिवेश में करते हुए चले हैं। उन्होंने अपना विवेचन जीवन और जगत की प्रत्यक्ष अनुभूति का ठोस आधार लेकर किया है। इससे वे आधुनिक साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियों से तादात्म्य नहीं कर सके। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य क्षेत्र में प्रचलित न्व्यतर वादों और शैलियों को समुचित समर्थन नहीं दिया। कारण, कि वे उन वादों और शैलियों को 'बदलते हुए फैशन' जैसी चीज मानते हैं। इसीलिए पश्चिमी साहित्य की समृद्धि के परिप्रेक्ष्य में उनका उचित मूल्यांकन नहीं कर सके हैं। इसका कारण यह है कि शुक्ल जी ने काव्य–वादों की कलात्मकता और सौन्दर्य वृत्ति के मूल्यांकन में ही अपने विवेचन को सीमित कर लिया है। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म से अनुस्यूत तुलसी के मानस को अपना आप्त वाक्य बनाकर लोकधर्म के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर एक आदर्श की स्थापना की है। वस्तुतः शुक्लजी का लक्ष्य, मानस में निरूपित, हिन्दू समाज पद्धति और आदर्शवाद की आधारभूत सार्वदेशिक व्यवस्था को स्थापित करना है।"

शुक्लजी की चिंतन दृष्टि संतुलित एवं तुलसीदास की भांति मर्यादित तथा साधी हुई रही है। वे काव्य की साधना में, किसी भी, अलौकिक नाम की वस्तु को स्वीकार न करते हुए, मुक्त हृदय की अवस्था में ही, सच्चे काव्य की अनुभूति मानते हैं। उन्होंने युग धर्म की आवश्यकता और जीवन साहित्य की सर्जना के तत्त्व बिन्दुओं को जानकर अपने रसग्राही मस्तिष्क और सहज संवेदना के द्वारा साहित्य के स्वाभाविक विकास के अवरोध को दूर किया है।

शुक्लजी के समीक्षा विषयक सिद्धान्त

शुक्लजी हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक सम्पन्न एवं समृद्ध आलोचक हैं, जिन्होंने सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक आलोचना को समन्वित करके प्रस्तुत किया है। उन्होंने जो भी सैद्धन्तिक विरुपण किया, वही उनकी समीक्षा का मानदण्ड हो गया। उन्होंने अपने समीक्षा सिद्धान्तों का निर्माण आचार्योचित गरिमा और गम्भीर्य के साथ किया। रसवादी आचार्य होने के नाते उन्होंने अपनी समीक्षा में रसाभिव्यक्ति को मूल रूप में ग्रहण किया है।

मूल सिद्धान्त (रस)

शुक्लजी ने अपनी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाओं में रस को मूल सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने रस की जो परिभाषा दी है, उसमें मानव जीवन की हृदयजन्य व्यापक अनुभूति को समाहित करने का यत्न किया है। शुक्लजी के मत से 'लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।" शुक्लजी हृदय की मुक्तावस्था को रस दशा मानते हैं। व्यक्ति जब अपने स्वार्थ सम्बन्धों अथवा व्यक्तिबद्ध दशा से ऊपर उठकर लोकहृदय में लीन होता है; मानव मात्र को अपनत्व की दृष्टि से देखता है। तब वह रस दशा को प्राप्त हो जाता है। मनुष्य अपनी इष्ट हानि या अनिष्ट व्याप्ति का परिहार करके दूसरे की पीड़ा, वेदना अथवा दुःख को देखकर जिस करुणा की अनुभूति करता है, वही सच्ची अनुभूति या रसानुभूति कही जा सकती है। शुक्लजी ने काव्य में, व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप की अपेक्षा निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय को ग्रहण किया है। उन्होंने मनोविकारों के परिष्कार और शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध के निर्वाह को प्रमुख मानते हुए उसे रस का नाम दिया है।

शुक्लजी ने रस को लौकिक माना है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो की उन मान्यताओं का खंडन किया है जो रस को अलौकिक, अनिवर्चनीय अथवा ब्रह्मानन्द सहोदय मानते हैं। उन्होंने रस के स्वरूप अन्तर्गत मनुष्य का लोक–सामान्य भाव भूमि पर पहुंचना, लोक–सत्ता में लीन होना, सबकी अनुभूति को अपनी अनुभूति समझना, अनुभूति योग के अभ्यास से मनोविकारों का परिष्कार और उससे शेष सृष्टि के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह को विशेष रूप से ग्रहण किया है।" शुक्लजी ने हृदय की मुक्तावस्था के अन्तर्गत लोक से उदासीन अथवा सुख–दुखात्मक भावना से हीन भाव को ग्रहण नहीं किया, अपितु स्वार्थ भाव के परित्याग को स्वीकार किया है। मनोविकारों का परिष्कार अनुभूति के विशदीकरण से होता है। परिष्कार का यह स्वरूप तब तक बना रहता है, जब तक कर्म और भाव दोनों क्षेत्रों में लोक–मंगल के लिए मनोविकारों की उपयोगिता बनी रहती है। इसी को शुक्लजी ने शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध मानते हुए और उसे रस के अन्तर्गत स्थान देकर रस को व्याप्ति प्रदान की है।

शुक्लजी के अनुसार रस दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है।" रस, व्यक्ति के योगक्षेम (स्वार्थ से रहित) की भावना से विरहित मुक्त हृदय की अनुभूति बन जाती है, उसका आलम्बन सर्वसाधारण का आलम्बन बन जाता है। यह अनुभूति जगत में भी होती है, अतः काव्य और जगत की अनुभूति में अन्तर नहीं होता है। इस दृष्टि से शुक्लजी की रसविषयक धारणा रस सम्बन्धी सभी प्राचीन मान्यताओं से अलग है।

रस के अवयव

साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव रस के अवयव स्वीकार किये गये हैं। शुक्लजी ने रस के अवयवों का मौलिकता के साथ विवेचना किया है।

शुक्लजी के मत से ''प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेषण का नाम भाव है।'' भाव एक वृत्ति चक्र अथवा मानसिक एवं शारीरिक विधान व्यवस्था है। एक प्रकार से मानसिक या शारीरिक अवस्थाओं को प्रदर्शित करना भाव है। मन का वही वेग 'भाव' कहलाता है। जिसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय कारण रूप से प्रतिष्ठित होते हैं।

भाव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी का कथन है कि ''भाव उस विशेष रूप के चित्त विकार को कहते हैं जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुखात्मक अनुभूति का धारणा और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा, पूर्वापर सम्बद्ध

होकर संघटित हो।'' भाव, मन के वेगयुक्त अवस्था विशेष या क्षुत्पिपासा, काम–वेग आदि शारीरिक वेगों से भिन्न है। इसमें निश्चयात्मिका बुद्धि का योग अधिक होता है, साथ ही, दूरस्थ लक्ष्य अथवा परिणाम की धारणा अधिक व्यक्त होती हे। काव्य में, अनेक स्थल ऐसे होते हैं, जहां भावों को ग्रहण करने के लिए विषय के मूल और आदिम रूपों तक पहुंचना पड़ता है। ये रूप निश्चय ही मूर्ति और गोचर होते हैं।

काव्य में विभव की सत्त प्रमुख होती है। शुक्लजी के अनुसार विभाव में, शब्द द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी होती है, जो वस्तुएँ भावों की आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन होती है। काव्य में, इस वस्तु प्रतिष्ठा के पश्चात् भाव–व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए शुक्लजी ने विभव के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं और व्यापारों का समावेश कर लिया है, जो मानव के मन में माधुर्य, दीप्ति, कान्ति और सौंदर्य की भावनाएँ उत्पन्न करते हैं। विभाव का यह स्वरूप परिस्थिति और वातावरण पर निर्भर करता है। काव्य में, विभाव ही भावों को उद्बुद्ध करते हैं, आलम्बन उन्हें उठाते और जगाते हैं, तथा उद्दीपन भावों को उत्कर्ष की अवस्था में पहुंचाते हैं।

आलम्बन के भीतर व्यक्ति, व्यापार, घटना, प्रकृति परिस्थिति आदि गोचर पदोर्थों को लिया जा सकता है, जो ज्ञानात्मक या काल्पनात्मक अवयव बनने में समर्थ होते हैं। शुक्लजी ने काव्य में, आलम्बन की प्रमुखता के कारण प्रकृति वर्णन द्वारा रसोद्बोधन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उन्होनें विभाव के अन्तर्गत साधारण, असाधारण सभी का समावेश कर दिया है। काव्य में, जहां वस्तु, श्रोता या पाठक के भावों का आलम्बन होता है, वहाँ, अकेले विभाव का पूर्ण चित्रण काव्य कहलाने में समर्थ होता है।

शुक्लजी ने अनुभव के अन्तर्गत आश्रय की चेष्टाओं को ग्रहण किया है। आश्रय की इन चेष्टाओं का उद्देश्य आश्रय के मनोगत भावों की व्यंजना करना होता है। अनुभवों का सम्बन्ध सदैव भाच के आश्रय से होता है, क्योंकि भाव–व्यंजक चेष्टाएँ आश्रय की ही हो सकती है। भाव की प्रवृत्ति और गतिविधियों की जानकारी देने के कारण अनुभव, भाव स्वरूप के अन्तर्गत आ जाते हैं।

शुक्लजी ने संचारी भावों के विवेचन में भी मौलिकता का परिचय दिया है। उनके अनुसार कुछ भाव ऐसे हैं, जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का सा अनुभव कर सकते हैं, वे तो प्रधान या मुख्य भावों में रखे जा सकते हैं, शेष भाव या मन के वेग संचारियों में रखे गये हैं। अतः मूल और मुख्य भाव को पुष्ट एवं उसके लक्ष्य या प्रवृत्ति से संयुक्त कराने वाले मनोविकार संचारी होते हैं। ये स्थायी भाव को पुष्ट करने के पश्चात् उसी में लीन हो जाते हैं। संचारियों के जागरण काल में स्थायी भाव का रूप ज्यों–का–क्यों बना रहता है। भावों के इस मूल आधार की उद्भावना शुक्जली की अपनी है।

शुक्लजी ने संचारी के अन्तर्गत भाव के निकट तक पहुंचने वाले (स्वतन्त्र विषय और लक्ष्य युक्त मनोविकार) मन के क्षणिक वेग के साथ–साथ शारीरिक और मानसिक अवस्थाएं एवं स्मरण, वितर्क आदि अन्तः कारण की वृत्तियों को भी ग्रहण किया है। उनकी दृष्टि के अनुसार लक्षण ग्रन्थों में वर्णित संचारियों के अतिरिक्त और भी संचारी हो सकते हैं। जैस स्मृति है वैसे ही विस्मृति भी हो सकता है। परिस्थिति, अवसर आदि के अनुसार ये संचारी भाव परिवर्तित होते रहते हैं।

रस–प्रक्रिया (साधारणीकरण)

कवि की अनुभूति और सामान्य व्यक्ति की अनुभूति भिन्न होती है। सामान्य व्यक्ति की अनुभूति में व्यक्ति के राग द्वेष की प्रधानता होती

है, परन्तु कवि की अनुभूति में इनके लिए कोई स्थान नहीं है। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय–सुलभ बनाने के लिए उसे लोग सामान्य भाव भूमिपर अधिष्ठित करता है। सहृदयानुभूति को प्रेषणीय बनाने के लिए किया गया विभावन व्यापार साधारणीकरण कहलाता है। इसी को रस–प्रक्रिया के नाम से भी अभिहित किया गया है।

साधारणीकरण में लोक–सामान्सय भाव को ग्रहण कहते हुए शुक्लजी ने कहा है कि–''जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना यहां साधारणीकरण कहलाता है। किसी कवि के काव्य में दूसरे हृदय की समानता तब आती है जब आलम्बन में लोक धर्म की प्रतिष्ठा की जाती है। काव्य का सर्वग्राह्य और सर्वसमस्त रूप तक उपस्थित होता है, जब कवि के भाव का अलम्बन सहृदय के भी उसी भाव का आलम्बन होने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों के कारण उसके भावों का आलम्बन हो जाता है। पाठक या दर्शक का, सहृदय के साथ उसकी भावनाभूति में तल्लीन हाना साधारणीकरण कहलाता है।

शुक्लजी ने साधारणीकरण आलम्बन की अपेक्षा आलम्बनत्व धर्म का माना है। काव्य में व्यक्ति तो सदा विशेष ही रहता है, परन्तु उसमें ऐसे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा रहती है, जिसके साक्षात्कार से श्रोता या पाठकों के हृदय में यत्किंचित एक ही भाव का उदय होता है। इसमें रस मग्न पाठक के हृदय में अपने पराये का भेद भाव रहता है।

शुक्लजी ने पूर्ण रस की स्थिति कवि, आलम्बन और सहृदय के समन्वय में मानी है। उनके अनुसार भाव की अनुभूति, आलम्बन द्वारा, पहले कवि में, फिर उसके द्वारा वर्णित पात्र में, और फिर सहृदय या पाठक में होती है। तभी विभाव द्वारा साधारणीकरण यथवा रस प्रक्रिया पूर्ण होती है। काव्य में जिसे आलम्बन कहा जाता है, वह कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप है।

हिन्दी के मूर्न्य आलोचक डॉ. नगेन्द्र शुक्लजी के आलम्बत्व धर्म के सिद्धान्त से सहमत नहीं हे। उनका कथन है कि ''साधारणीकरकण कवि की अपनी अनुभूति का होता है। अर्थात जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है'' डॉ. नगेन्द्र कीयह उपपत्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन के साथ साधारणीकरण का न होना दोनों की अपवादी स्थिति का निराकरण कर दिया है। शुक्लजी ने कवि की अनुभूति (भाव) के साथ साधारणीकरण 'तादात्म्य' की बात को स्वीकार अवश्य किया है, परन्तु कारणवश आश्रय और पाठक के भावों के एकीकरण, दोनों के आलम्बनों एवं कवि की अनुभूति के साधारणीकरण की बात को केवल प्रारम्भिक समाधान मानने के कारण सामान्य नियम के रूप में ग्रहण नहीं कर सके। फिर भी, उन्होंने संस्कृत परम्परा के अन्तिम साचार्य पंडितराज जगन्नाथ के बाद 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त का मौलिकता के साथ प्रतिपादन, पुनराख्यान और प्रतिस्थापन का प्रयत्न किया है।

रसानुभूति के रूप

रसानुभूति भावों की विम्बना में होती हे। कोई भाव बिम्ब रूप होकर ही रस या भाव कोटि में पहुंचता है। अतः भाव का रूप विधान (बिम्ब रूप) होना ही रसानुभूति कहलाता है। शुक्लजी ने प्रत्यक्ष, स्मृत और कल्पित नाम से तीन रूप विधान मान हैं।

प्रत्यक्ष रूपों के आधार पर भावुकता की प्रतिष्ठा होती है, जिसका मूलाधार चारों और फैला हुआ रूपात्मक जगत् है। इस जगत का प्रत्यक्ष ज्ञान मन के भूत,र रूपों की सृष्टि करता है, भावों को उत्तेजित करता है, कल्पना को जगाता है और उस चेतना एवं प्रखर बनाता है। शुक्लजी ने प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत चाक्षुष ज्ञान के साथ–साथ शब्द, स्पश, रस और गंध को भी ग्रहण किया है। रसानुभूति प्रत्यक्ष अनुभूति का उदात्त और अवदात्त स्वरूप है।

शुक्लजी ने प्रत्यक्ष और स्मृत रूप विधान द्वारा जागरित अनुभूति को रस कोटि में स्थान देकर रसानुभूति की सीमा को अधिक विस्तार प्रदान किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार हमारी आंखों के सामने आये हुए कुछ रूप व्यापार हमें रसात्मक भावों में मग्न करते हैं, उसे प्रकार भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्षा वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभी रसात्मक होता है। अजीत का स्मरण व्यक्ति की मनोवृत्ति को शुद्ध एवं मुक्त भावभूति पर ले आता है। स्मृति संचारी भावों के अन्तर्गत आती है, परन्तु स्थायी भाव के सम्पर्क में आने पर वह रसात्मक हो जाती है। अतः रति, हास और करुणा से सम्बद्ध स्मृति ही रसात्मक हो जाती हे। उदाहरणार्थ प्रियजन और अतीत जीवन की स्मृति को लिया जा सकता है।

विशुद्ध स्मृति के अतिरिक्त मिश्रिम–प्रत्यक्ष मिश्रित स्मृति का नाम दे दिया गया है। यहीं शुक्लजी ने आप्त शब्द अथवा इतिहास पर आधारित स्मृत्याभास कल्पना को भी रसानुभूति का साधन माना है। इसमें मार्मिकता और जल्लीनता के तत्त्व होते हैं, जो रासानुभूति में सहायक होते हैं।

कल्पित रूप विधान को शुक्लजी ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। कल्पित रूप विधान के अन्तर्गत प्रस्तुत और अप्रस्तुत, दोनों प्रकार के रूप विधान आ जाते हैं। शुक्लजी के अनुसार सारा रूप विधान कल्पना ही करती है। कल्पित रूप विधान के द्वारा भाषा और शैली में मार्मिकता, व्यंजकता, चमत्कार पूर्णता और लाक्षणिकता की वृद्धि होती हे। कल्पना ही रूप चित्रों द्वारा भावों का बिम्ब ग्रहण कराती है।

रसानुभूति के रूपों का प्रतिपादन शुक्लजी की मौलिकता को स्पष्ट करता है। रस ग्रहण की कोटियों का निर्धारण करके शुक्लजी ने हिन्दी आलोचना को नवीन महत्त्व प्रदान किया है।

काव्य विषयक अवधारणा

शुक्लजी मुक्त हृदय की दशा में ही सच्चे काव्य की अनुभूति हैं। उनका मत है कि –'जिस प्रकार आत्मा की8 मुक्तावथा ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाजी है। हृदय की उसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कपिता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते है। शुक्लजी काव्य स्वरूप का आधार लौकिक मानते हैं। व्यक्ति, इस अनन्त रूपात्मक क्षेत्र जगत् में पारस्परिक भावों, विचारों और व्यापारों में संलग्न रहता है और एक विशुद्ध जनुभूति में अपने आपको पाता है। यह व्यक्ति के मुक्त हृदय की दशा है, इसी को ज्ञानदशा कहा गया है।

मानव हृदय जिस शब्द योजना या रचना के द्वारा पृथक् सत्ता की भावना या संकुचित परिधि से मुक्त होकर अनन्त अनुभूति का आभास पाता है, उसी को साहित्य की भाषा में रसदशा कहते हैं। इस प्रकार लोक समष्टि की सामान्य भावना (काव्यानुभूति) हृदय की मुक्तावस्था या भावयोग है। शुक्लजी ने इस भावयोग की समता गीता के कर्मयोग तथा वेदान्त के ज्ञानयोग से की है।

शुक्लजी कविता को बहुत धरातल पर स्वीकार करते हैं और उसे लोक सामान्य भावभति

पर अधिष्ठित करते हैं। उनके अनुसार कविता, मनुष्य के हृदय में, जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार एवं शुद्ध अनुभूतियों का संचार करती हैं उनकी कविता विषयक धारणा में लोक पक्ष की आदर्श निष्ठा सम्पृक्त है। शुक्लजी मनोविकारों का परिष्कार तब मानते हैं, जब लोक सामान्य के साथ व्यक्ति रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। यह रागात्मक सम्बन्ध तभी सम्भव हो सकते है अब अनुभूति इस व्यापक, रूपात्मक अरूपात्मक और दृश्य–अदृश्य जगत में व्याप्त होती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि शुक्लजी ने कविता के स्वरूप, उसकी मूल प्रकृति और शक्ति संभावनाओं पर हिन्दी में पहली बार तलस्पर्शी और प्रौढ़ चिंतन किया है। साथ ही, कविता को ज्ञान योग व कर्म योग के समकक्ष महत्ता प्रदान करके उसके स्तर को ऊँचा किया है। उसे, विधान, जीवन और मानव सभ्यता की वर्तमान गतियों के संदर्भ में रखकर गम्भीर मनन किया है। काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य में, जीवन या जगत के ही विभिन्न रूप, विविध वृत्तियाँ और अनेक समस्याएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। जिस प्रकार या जगत् अनेक रूपात्मक है वैसे ही मानव हृदय भी अनेक विध भावों से परिपूरित है। भावों की मार्मिकता की अवस्था में किया गया दृश्य विधान काव्योपयोगी होता है। अतः अनुभूति ही कवि कर्म की प्रेरणा हो सकती है।

शुक्लजी ने समन्वयवादी दृष्टिकोण से, काव्य में, प्रकृति के अन्तः और बाह्य स्वरूपों को आवश्यक माना है। वे काव्य दृष्टि को कहीं नर क्षेत्र के भीतर कहीं मनुष्येतर बाह्य–सृष्टि के और कहीं समस्त चराचर जगत से आविर्भूत मानते हैं। उनके विचार से प्रकृति दो रूपों में हमारे समक्ष उपस्थित होती है – आलम्बन रूप में और उद्दीपन रूप में।

कवि की मुग्ध दृष्टि मनुष्य की बाहरी और भीतरी वृत्तियों को चित्रित करने में लगी रहती है। कवि, व्यक्ति के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य और साधर्म्य की दृष्टि से जो उद्भावना करता है, उसका विषय नरम्व की अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति के नाना सम्बंधों और पारस्परिक विधानों का संकलन मात्र है, जो केवल उद्दीपन रूप में अधिक उपलब्ध होता है।

नरक्षेत्र और मनुष्येतीर संजीवन सृष्टि के अतिरिक्त, काव्य–दृष्टि समष्टि रूप में समस्त जीवन क्षेत्र जड़ सृष्टि तक फैली हुई है। भावना के व्यापक प्रसार के साथ–साथ हृदय की उच्च भूति पर पहुँची हुई वृत्ति शान्त और गम्भीर होती है।

शुक्लजी ने प्रकृति पर भावना और बुद्धि के सामुहिक योग से सूक्ष्म और विस्तृत विचाार किया है। अपने निगूढ़ प्रकृति प्रेम के कारण उन्होंने प्रकृति के वर्णन मात्र में काव्य रस की निष्पत्ति को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है।

कवि समस्त जड़ और चेतन जगत् को अपना वर्ण्य–विषय बनाता है। उसकी दृष्टि प्राप्त प्रसंगों के गोचर–अगोचर सभी पक्षों तक पहुँचती हुई प्राप्य के अंग–प्रत्यंग का साक्षात्कार करती है। शुक्लजी समस्त विश्व को ही काव्य का विषय मानते हैं। उनकी दृष्टि के कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता चारों और फैले गोचर जगत् से है। यह जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है। कवि इस लौलिक अनुभूति को काव्य का रूप देता है।

शुक्लजी ने प्रकृति प्रेम को देश प्रेम का अधिक स्वच्छ, परिष्कृत और अन्तरंग रूप माना हे। उनके अनुसार प्रकृति वर्णन में मानव की क्रियाओं और भावनाओं काा आरोप एक निश्चित सीमा के भीतर ही हो कसता है। इस प्रकार के तथ्यों को वे कवि कर्म का अत्यन्त साधारण अंग ही मानते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य के

वर्ण्य–विषय को लेकर उन्होनें जो प्रयास किया, वह हिन्दी में, उनका हार्दिक और मौलिक प्रयास है।

काव्य का उद्देश्य

शुक्लजी कविता का उद्देश्य केवल आनन्द अथवा मनोरंजन नहीं मानते हैं। उनके मत से ''कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है पर उसके बाद कुछ और भी होता है और वही 'और' सब कुछ है।" यही आनन्द या मनोरंजन ही सब कुछ माना जाये तो वह केवल विलास की सामग्री मात्र रह जाती है। जगत् के मार्मिक पक्ष प्रकृति, प्रभाव, प्रेरणा, परिवेश, मनोविकार और द्वन्द्वात्मकता का उद्घाटन सौन्दर्य–असौन्दर्य, सुकुमारता–कठोरता आदि मानव के हृदय में रसानुभूति जागृत करते हैं।

शुक्लजी रस परम्परा का अनुकरण करते हुए चले हैं। उन्होंने रसोद्रेक को महत्व दिया है और विशुद्ध मनोवैज्ञानिक आधार पर काव्य के मूल लक्ष्य को ग्रहण किया है, साथ ही, सामाजिक और नैतिक भावभूमि पर रस को प्रतिष्ठित करके समन्वयात्मक और हृदय प्रसार को महत्व दिया है। उनका काव्योद्देश्य सम्बन्धी दृष्टिकोण शास्त्र–सम्मत कार्य मौलिक कोटि का है। इसके मूल में दो कारण परिलक्षित होते हैं। युगानुकूलता के तत्व की स्वीकृति एवं उसकी अभिव्यक्ति में नवीन पदावली का प्रयोग।

काव्य की कसौटी

शुक्लजी की काव्य कसौटी का आधार भाव है। भाव और विचार दोनों ही रस के तत्व हैं। शुक्लजी मानव भावों या मनोविकारों के साथ केवल गूढ़, उच्च और व्यापक विचारों का संयोग कराने वाले तत्त्व को ही महत्व देते हैं। उच्चता का यह तत्व रस ही हो सकता है, जिसे शुक्लजी काव्य की कसौटी पर निश्चित कसते हैं। शुक्लजी के अनुसार वही सच्च काव्य है जो सामान्य भूमि पर पहुँची हुई मानव अनुभूतियों को चित्रित करता है। भावात्मक सत्ता का विस्तार और भावों की गहराई या तीव्रता कवि को उत्कर्ष की ओर ले जाती है, क्योंकि जीवन की मार्मिकता का चित्रण कविता का परम उत्कर्ष है। शुक्लजी की दृष्टि में परस्पर सम्बद्ध विविध वृत्तियों का सामंजस्य ही काव्य का उत्कर्ष और सबसे बड़ा मूल्य है। काव्य की सफलता कर्म सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति में है, जिसका आधार करुणा, क्रोध आदि विरोधी भावों का समन्वय है। अतः स्पष्ट है कि रस के अन्तर्गत ही, अन्तः प्रकृति के सभी पक्षों के गोचर रूप का सामंजस्य मिलता है।

काव्य के उपकरण

काव्य का केन्द्रीय बिन्दु भाव या रस है। भाव या रस ही जीवन अथवा जगत् (शेष सृष्टि) के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध को जोड़ता है। इसी रागात्मक सम्बन्ध के आधार पर शुक्लजी ने चमत्कार, व्यंग्य, वक्रोक्ति, अलंकार, भाषा, शैली, छन्द को काव्य का साधन अथवा उपकरण माना है, जो रसानुभूति के साधन हैं, साक्ष्य नहीं। शुक्लजी ने चमत्कार के अन्तर्गत अद्भुत को ग्रहण नहीं किया है। चमत्कार से उनका अभिप्राय उक्ति के चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत पूर्ण–विन्यास की विशेषता, शब्दों की क्रीड़ा, वाक्य की वक्रता, अद्भुत वस्तुओं का अद्भुत तत्व के साथ उनका सादृश्य या दूरारूढ़ कल्पना आदि बात आती है।

शुक्लजी के अनुसार भाषा, जीवन और जगत के गोचर और अगोचर रूपों को भाव चित्र के रूप में साकार करने का साधन है। उनके अनुसार कविता, स्थूल और गोचर रूपों के अतिरिक्त अगोचर रूपों और भावनाओं को भी

मूर्ति विधान के लिए प्रस्तुत करती है। यह सब कार्य भाषा की लक्षण शक्ति से सम्पन्न होता है।

शुक्लजी की दृष्टि में अलंकार वर्णन प्रणाली मात्र है, उन्हें काव्य रस के साधन अवयव के रूप में ग्रहण करना युक्तिसंगत है। वे साध्य अथवा उद्देश्य के रूप में अलंकारों के निरूपण का निषेध करते हैं। उन्होंने भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी–कभी सहायक होने वाली युक्ति को अलंकार कहा है। इसी कारण वे अलंकार और अलंकार्य के अभेदत्व का निराकरण करते हुए उन्हें निर्दिष्ट सीमा में रहित मानते हैं।

छन्दों को, शुक्लजी भावों के अनुरूप ग्रहण करने के पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि से नाद–सौन्दर्य कविता की श्री–वृद्धि और भाव प्रेषण में सहायक होता है। इसीलिए छन्दों के नये बन्धन शुक्लजी को अमान्य नहीं है।

शैली के पूर्ण मर्मज्ञ पारखी होते हुए भी शुक्लजी उसके पूर्ण महत्व को स्वीकार नहीं करते हैं। कोरी शैली के चटपटे व्यंजनों से वे तनिक भी संतुष्ट नहीं हैं। इस दृष्टि से प्रसाद और शुक्लजी के विचारों में पर्याप्त साम्य दिखाई पड़ता है।

काव्य में कल्पना

शुक्लजी का कल्पना विषयक दृष्टिकोण रस सिद्धान्त के अनुकूल है। वे काव्य के अन्तर्गत भावों के प्रवर्तन के लिये कल्पना को आवश्यक मानते हैं। काव्य में भावों के सजीव, मार्मिक और स्पष्ट प्रतिस्थापन के लिए कल्पना का सौष्ठव पूर्ण प्रयोग अनिवार्य है।

शुक्लजी काव्य वस्तु का समस्त रूप विधान कल्पना की क्रिया से मानते हैं। उनकी दृष्टि से काव्य में कल्पना का समावेश वहीं तक उचित है, जहाँ तक वह भावों को रस की कोटि तक पहुँचाने में सहायक होती है।

शुक्लजी ने दो प्रकार की कल्पना (विधायक और ग्राहक) काव्य में आवश्यक मानी है। उनके अनुसार कवि में विधायक कल्पना और श्रोता या पाठक में ग्राहक कल्पना अपेक्षित है। कवि, विधायक कल्पना के द्वारा काव्य में मूर्ति विधान करता है। परन्तु जहाँ वह पूर्ण चित्रण नहीं कर पाता, वहाँ पाठक या श्रोता अपनी ग्राहक कल्पना के आधार पर मूर्ति विधान करता हुआ उस कमी की पूर्ति कर लेता है।

शुक्लजी कल्पना का सम्बन्ध कवि कर्म और रस प्रक्रिया से मानते हैं। कल्पना के अभाव में कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति असम्भव है। कल्पना काव्य का अनिवार्य साधन है। यही रस के विभाव, अनुभाव आदि का रूप विधान करती है। शक्लजी ने कल्पना का मौलिक और समन्वयात्मक दृष्टि से विवेचन करके, काव्य–सृष्टि में उसकी उपयोगिता सिद्ध की है और उसकी युगानुरूप व्याख्या की है।

सौंदर्य विषयक दृष्टि

शुक्लजी जी का सौंदर्य विषयक दृष्टिकोण वस्तुवादी हे। वे सन्दर वस्तु से पृथक् सौंदर्य की कोई सत्ता नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि सौन्दर्य की अनुभूति मन की परिणति के अनुसार होती है। उन्होंने सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है और उसे वस्तुवादिता, सात्त्विकताय, रमणीयता, सामाजिकता तथा रसानुभूति की सभी विशेषताओं के समान माना है।

सौंदर्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी ने कहा कि ''किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणित होगी उतनी ही बड़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जाएगी। शुक्लजी ने वस्तु को अधिक महत्त्व दिया है। वे वैयाक्तिकता को

सौंदर्यानुभूति में स्थान नहीं देते हैं। वे सौंदर्य को अखण्ड रूप में मानते हैं, जो इस विराट विश्व में राशि–राशि होकर बिखरा पड़ा है।

हिन्दी के प्रबुद्ध आलोचक डॉ. नगेन्द्र, शुक्लजी की सौंदर्य विषयक वस्तुवादी दृष्टि से असहमत हैं। डॉ. नगेन्द्र का सौंदर्य विषयक दृष्टिकोण समन्वय पर आधारित है। डॉ. नगेन्द्र सौंदर्य में दो वस्तुओं विषय और विषयी अथवा वस्तु का रूप और उसकी प्रतीति का समन्वय मानते हैं। उनकी दृष्टि से सौंदर्य की रूपाकृति एक गोचर तथ्य है। वस्तु के गोचर रूप से प्रतीति ही, वास्तव में, सौंदर्य–दृष्टि है।

शुक्लजी सौंदर्य को कवि की अनुभूति का अनिवार्य माध्यम और उसका एक प्रमुख काव्य विषय मानते हैं। उन्होंने अपनी मर्म भेदिनी दृष्टि से सौंदर्य के विषयगत और विषयीगत भेदों के अतिवादों को बचाकर मयम मार्ग का अवलम्बन लिया है।

काव्य की श्रेणियाँ

शुक्लजी ने अपनी लोक मंगल की भावना के आधार पर काव्य को दो भागों में विभक्त किया है – आनन्द की साधनावस्था का काव्य और आनन्द की सिद्धावस्था का काव्य।

ब्रह्म के सत्, चित्त और आनन्द तीन रूपों में काव्य और भक्ति मार्ग के लिए उसका आनन्द रूप अधिक उचित माना गया है। शुक्लजी लोग में आनन्द के दो रूप मानते हैं–साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष और सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष। काव्य में आनन्द के दोनों रूपों की अभिव्यक्ति होती है, परन्तु शुक्लजी साधनावस्था को ही काव्य के आदर्श रूप में ग्रहण करते हैं। वे काव्य के 'साधना' पक्ष को उत्कृष्ट मानते हैं। उन्होंने काव्य के भाग पक्ष की अपेक्षा कर्म को प्रेरणा देने वाले काव्य के प्रयत्न पक्ष को विशिष्ट रूप से प्रतिपादित किया है।

शुक्लजी ने काव्य रूपों में सर्वाधिक महत्त्व प्रबन्ध काव्य को दिया है, जो उनकी रस दृष्टि के सर्वथा अनुकूल है। वे इतिवृत्त के आधार पर ही प्रबन काव्य का निर्माण स्वीकार करते हैं।

मुक्तक काव्य को भी शुक्लजी ने पर्याप्त महत्त्व दिया है। उनका यह वाक्य प्रद्धि है कि–''यदि प्रबन काव्य एक विस्तृत बनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह भी समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। मुक्तक में रस की धारा न होकर केवल रस के छींटे ही उड़ते हैं। जो पाठक के चित्त को थोड़ी देर के लए सिक्त कर देते हैं।

शुक्लजी ने प्रबन और मुक्तक के अतिरिक्त गीत काव्य की स्वतंत्र परम्परा पर अपनी मौलिक दृष्टि रखकर विचार किया है। उन्होंने गीत काव्य का मूल श्रोत सामान्य जनता के बीच प्राचीनकाल से प्रचलित लोकगीतों में देखा है।

शुक्लजी का काव्य का वर्गीकरण और काव्य रूप विषयक दृष्टिकोण रसानुकूल और नवीनता से युक्त हे। उन्होंने काव्य रूप में भी कलात्मक सौष्ठव, कवि के आशय या वक्तव्य का जीवनानुभव के द्वारा मौलिक प्रतिपादन किया है। यह उनकी समीक्षा के अन्तरंग और मार्मिक पक्ष को उजागर करता है।

समीक्षात्मक उपलब्धियाँ

शुक्लजी ने भारतीय समीक्षा के मुख्स सिद्धान्त (रस सिद्धान्त) को विश्व समीक्षा के स्तर पर अधिष्ठित किया है। उसी के आधार पर उनकी समीक्षा आधुनिक आलोचकों के लिए प्रेरणा–श्रोत हो रही है। उनकी समीक्षा का आधार लोकादर्श और रसादर्श है।

शुक्लजी ने रस सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य के अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य, कल्पना, अनुभूति, सौंदर्य आदि तत्त्व और

जीवन के मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, युग चेतना आदि के तत्त्वों को समाहित कर दिया है। इसके साथ ही रस सिद्धान्त को प्राचीन नवीन, पूर्व और पश्चिम की समस्त काव्य सम्पादाओं को विशेषताओं से समन्वित करके एक प्रतिमान के रूप में स्थित किया है।

उन्होंने हृदय की मुक्तावस्था के रूप में रस की मौलिक परिभाषा प्रस्तुत की है। भाव सामान्य एवं प्रत्येक भाव के विभिन्न तत्त्वों, लक्षणों को मौलिक रूप में रखकर भाव के वृत्ति चक्र अथवा शारीरिक मानसिक विधान व्यवस्था का नवीन निरूपण किया हे। शास्त्रीय ग्रन्थों में अप्राप्य भावों तथा रसों की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख करके स्थायी भाव की जीवन सम्बन्धी साहित्यिक और सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की है।

विभाव के अन्तर्गत मानव और मानवेतर सृष्टि के साधारण और असाधारण पदार्थों को स्थान देकर नवीनता का परिचय दिया है। संचारियों के अन्तर्गत चकपकाहट आदि नवीन संचारियों का आविष्कार शुक्लाजी का अपना है।

रस प्रक्रिया के विवेचन में सधारणीकरण के तत्त्वों, विभिन्न अवस्थाओं, कोटियों, प्रयोग विधि तथा काव्य और नाटक के अतिरिक्त साहित्य रूपों के साथ उसक प्रयोग की मनोवैज्ञानिक विवेचना, शुक्लजी का मौलिक प्रयास है।

रस को मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आधार पर उपयोगी सिद्ध सिद्ध करते हुए उसे जीवन सामग्री से समझाने का प्रयत्न किया है।

उन्होंने सामाजिकता, निवैंयक्तिता और लोक–दशा में हृदय के लीन होने की दशा के रूप में रस की व्याख्या करके, समीक्षा की नई परम्परा प्रतिष्ठित की है। साथ ही, साधारणीकरण में आलम्बन के लोक धर्म वाले स्वरूप पर अधिक बल दिया है।

शुक्लजी ने लोकमंगल को जीवन का लक्ष्य तथा लोक धर्म को उसका साधना माना है। उन्होंने काव्य को जीवन का साधन मानते हुए, लोकमंगल को, उसके लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। इसी में उन्होंने लोक–मंगल औश्र लोक–मर्यादा को साहित्यिक मान्यता देकर हिन्दी समीक्षा में लोकवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। उन्हेंने अपने भाव और मनोविकार सम्बन्धी विवेचन के द्वारा, सैद्धान्तिम समीक्षा में, सामाजिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करने वाली साहित्य मीमांसा के साथ जीवन मीमांसा को भी स्थान दिया है।

शुक्लजी ने साहित्य रूप की शासन विधि का निर्माण करके अपने प्रभावशाली व्यक्तित्त्व द्वारा सैद्धान्तिक समीक्षा को अग्रसर किया है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार शुक्लजी ने पूर्व औश्र पश्चिम के सिद्धान्तों को बुद्धि से ग्रहण करके और अपनी अनुभूति की अग्नि में पचाकर उन्हें संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे उनकी समीक्षा में प्रगाढ़ता, धनता और अनिवार्यता आ गई जिसके कारण उन्हें विश्व के किसी भी आलोचक के समकक्ष खड़ा किया जा सकता है।

शुक्लजी की समीक्षा की वास्तविक शक्ति उनके सशक्त और मौलिक व्याख्यान में हैं। एक भावन के रूप में उन्होनें अपने परवर्ती आलोचकों को सर्वत्र प्रभावित किया है।

संदर्भ

- पं. शान्तिप्रिय द्विवेदी : सामयिकी, पृ 120
- रामेयवर लाल खण्डेलवाल 'तरुण' से प्राप्त सामग्री के आधार पर, पृ 2
- सं. शिवनाथ : हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ, पृ 2
- आचार्य नन्ददुलारे वाजपेई हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ 60

- ❖ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिंतामति (प्रथम भाग), पृ 183
- ❖ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रसमीमंसा, पृ 135
- ❖ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिंतामणि (प्रथम भाग), पृ 183
- ❖ डॉ. नगेन्द्र रस सिद्धान्त, पृ 209
- ❖ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिंतामणि (प्रथम भाग), पृ 195
- ❖ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस मीमांसा, पृ 21–22
- ❖ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिंतामणि (भाग–2), पृ 47
- ❖ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिंतामणि (प्रथम भाग), पृ 145
- ❖ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस मीमांसा, पृ 33
- ❖ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिंतामणि (प्रथम भाग), पृ 212
- ❖ संभावना वर्ष–1, अंक–1, पृ 15
- ❖ डॉ. नगेन्द्र आस्था के चरण, पृ 47

Copyright © 2016, Dr R.P.Verma. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.